



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2022; 8(1): 229-236

© 2022 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 02-01-2022

Accepted: 06-02-2022

डॉ. मुकेश कुमार मिश्र

सहायक आचार्य, संस्कृत
विभाग, देशबन्धु महाविद्यालय,
कालकाजी, नई दिल्ली, भारत

डॉ. रमा सिंह

सह-आचार्या, संस्कृत विभाग,
देशबन्धु महाविद्यालय,
कालकाजी, नई दिल्ली, भारत

Corresponding Author:

डॉ. मुकेश कुमार मिश्र

सहायक आचार्य, संस्कृत
विभाग, देशबन्धु महाविद्यालय,
कालकाजी, नई दिल्ली, भारत

ईशावस्योपनिषद् का प्रतिपाद्य

डॉ. मुकेश कुमार मिश्र एवं डॉ. रमा सिंह

सारांश

ब्रह्मविद्या अथवा आध्यात्मविद्या के प्रतिपादक उपनिषत्ग्रंथों में शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा की काण्व और मध्याह्नानन्दिन संहिता से सम्बद्ध ईशावस्योपनिषद् प्रमुख है। यहाँ यावज्जीवन कर्म करने का निर्देश अर्थात् कर्तव्यभावना का चित्रण किया गया है। साथ ही यहाँ अमृतत्व की प्राप्ति के लिए व्यष्टि को छोड़कर समष्टि को अपनाते, आत्मा के स्वरूप एवं विद्या-अविद्या, ज्ञान-कर्म, सम्भूति-असम्भूति जैसे परस्पर विपरीत भावों के तार्किक समन्वय के फलस्वरूप अमरत्व की प्राप्ति आदि के विवेचन पर प्रकाश डाला गया है।

कूट शब्द: उपनिषद्, कर्म, ज्ञान, आत्मा, विद्या, अविद्या, सम्भूति, असम्भूति, समष्टि, अमृतत्वादि।

प्रस्तावना

आत्म-ज्ञान के गूढ व पवित्रतम तत्त्व की व्याख्या करनेवाला एवं ब्रह्मविद्या का प्रतिपादक उपनिषत्ग्रंथ वैदिक वाङ्मय का वह हीरकमणि है, जिसके प्रकाश में उस परब्रह्म परमतत्त्व का दर्शन सम्भव है, जिनका साक्षात्कार महर्षियों ने वर्षों कठोर तप करके अपने ज्ञानचक्षु से किया है। यह वह आध्यात्मिक मानसरोवर है, जिसमें ज्ञान की भिन्न-भिन्न सरिताएँ इस पुण्यभूमि में मानवमात्र के ऐहिक कल्याण एवं आमुष्मिक मंगल के लिए प्रवाहित होती हैं। उपनिषत्ग्रंथ ब्रह्मविद्यासम्बन्धी साहित्य-कुसुम-कानन का वह विकसित कुसुम है जो सदैव अपने अतुलनीय सौरभ से संसार-मोह-विक्षिप्त मानव हृदय में चेतना का सञ्चार करता है। आर्थर शोपेनहार ने इस साहित्य के विषय में लिखा है कि यह अनुपम ग्रन्थरत्न है जो आत्मा की गहराईयों को हिलकोर डालता है। इसके प्रत्येक वाक्य में मौलिक, गंभीर और अत्यन्त ज्योतिष्मान् विचार उठते हैं। उन्होंने उपनिषद् ज्ञान की महत्ता को वैश्विक तत्त्वज्ञान की अपेक्षा अत्यन्त महान् माना है। उनका मानना है कि समस्त संसार के साहित्य में उपनिषदों जैसा लाभकर और आत्मा को ऊँचा उठानेवाला अन्य कोई अध्ययन नहीं है। यह मेरे जीवन को आश्वासन देनेवाला है और परलोक में भी मुझे शान्ति प्रदान करेगा।

मैक्समूलर ने भी उपनिषत्साहित्य की महत्ता का मुक्तकण्ठ से गुणगान किया है। वे कहते हैं कि - The upanishads are the sources of Vedant philosophy, a system in which human speculation seems to me to have reached it, very aim.

उपनिषद् वह तत्त्व है जो वेदान्तदर्शन का आदि स्रोत है और ये ऐसे निबन्ध हैं जिनमें मुझे भावी भावना अपने उच्चतम शिखर पर पहुँची हुई दिखाई देती है।

आगे शोपनहार का कहना है - In the world there is no study ... So beneficial and so elevating as that of upnishads ... they are product of the highest wisdom ... it is destined sooner or later to become that faith of the people.

इस संसार में ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है, जो उपनिषदों के समान उपयोगी और उन्नति की ओर ले जानेवाला हो। उपनिषद् उच्चतम बुद्धि की उपज है। आगे या पीछे एक दिन ऐसा होगा कि यह जनता का धर्म होगा।

उपनिषदों के महत्त्व का प्रतिपादन डॉ. गोल्डस्टुकर एवं गेर्गर्ड हेराल्डादि आचार्यों ने भी किया है। डॉ. गोल्डस्टुकर का कहना है कि The Vedant is the sublimest machinery set into motion by oriental thought. अर्थात् वेदान्त सबसे ऊँचे दर्जे का यन्त्र है जिसे पूर्वीय विचारधारा ने प्रवृत्त किया है।

गेर्गर्ड हेराल्ड का कथन है - In short, Vedanta offer that system of thought and way of life for which increasingly men have been looking: a universal religion in which could be combined all of good will.

संक्षेप में, वेदान्त दर्शन पद्धति एवं जीवनयापन कला एक सार्वभौमिक धर्म के स्वरूप का निर्माण करते हैं, उसके विभिन्न धर्मों एवं मत-मतान्तरों का अन्तर्भाव अवश्यम्भावी है।

आचार्यों ने इस साहित्य को मानव-ज्ञान व चेतना का सर्वोच्च फल माना है तथा इसे विश्व के महानतम उपहार के रूप में स्वीकार किया है। अत्यन्त विशाल एवं प्राचीनतम वैदिक साहित्य के अन्तर्गत उपनिषद्-साहित्य ज्ञानकाण्ड एवं ब्रह्मविद्या व आत्मविद्या का उत्कृष्टतम प्रतिपादक साहित्य है। यह भारतीय तत्त्वज्ञान एवं आध्यात्मिक चिन्तन के साथ-साथ वैश्विक दर्शन का आदिस्रोत है। इसमें समाविष्ट मानवीय दार्शनिक चिन्तन आज भी मानव की दार्शनिक जिज्ञासा का शमन करने तथा सत्य व यथार्थ का दर्शन कराने में समर्थ है। रहस् अर्थात् एकान्त स्थल पर रहस्यात्मक ज्ञान आत्मविद्या या ब्रह्मविद्या अथवा उपनिषद् विद्या का अध्ययन-अध्यापन होने से इसे रहस्य-विद्या अथवा गुह्यज्ञान भी कहा जाता है। भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने उपनिषद् साहित्य के व्यापक महत्त्व को

एक स्वर से स्वीकार किया है तथा मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा की है।¹

उप एवं नि उपसर्गपूर्वक √सद् (सदलृ) धातु से क्विप् प्रत्यय लगकर उपनिषद् शब्द सम्पन्न होता है, जिसका अर्थ है - समीप में बैठना अर्थात् गुरु के समीप बैठकर ज्ञान प्राप्त करना। √सद् (√सदलृ) धातु तीन अर्थों में प्रयुक्त मिलते हैं -

1. विशरण अर्थात् विनाश होना, विनष्ट होना या विशीर्ण होना 2. गति अर्थात् प्रगति, प्राप्ति या ज्ञान एवं 3. अवसादन अर्थात् शिथिल होना, विद्रावण या दूर करना। इस दृष्टि से उपनिषद् विद्या का अर्थ है ऐसी विद्या जो समस्त अनर्थों के उत्पादक सांसारिक क्रियाकलापों का नाश करती है, संसार के कारणभूत अविद्या (माया) के बन्धन को शिथिल करती है और ब्रह्म का साक्षात्कार कराती है। आचार्य शंकर कहते हैं कि भक्ति, श्रद्धादि के साथ आत्मभाव से ब्रह्मविद्या को प्राप्त करनेवाले मनुष्यों के जन्म-मरण, गर्भवास, जरा तथा रोगादि अनर्थों को यह विद्या नष्ट कर देती है, परब्रह्म को प्राप्त कराती है अर्थात् उसके समीप ले जाती है तथा अविद्यादि संसार के कारणों को समूल नष्ट कर देती है। आचार्य की दृष्टि में यहाँ उप + नि पूर्वक √सद् धातु से निष्पन्न उपनिषद् शब्द का अर्थ 'स्मरण' है। आचार्य की व्याख्या के अनुसार यहाँ उपनिषद् शब्द का प्रमुख अर्थ ब्रह्मविद्या है तथा गौण अर्थ ब्रह्मविद्याप्रतिपादक ग्रन्थविशेष है।²

उपनिषदों की प्रभूत संख्या में ईशोपनिषद् या ईशावास्योपनिषद् प्रथम है। शुक्ल यजुर्वेद संहिता की वाजसनेयी शाखा की काण्व और मध्यान्दिन दोनों संहिताओं में क्रमशः 18 और 17 मन्त्रों में उपनिबद्ध अन्तिम चालीसवाँ अध्याय ईशोपनिषद् या ईशावास्योपनिषद् के नाम से जाना जाता है। चालीसवें अध्याय से पूर्व दोनों ही संहिताओं के उनतालीसवें अध्याय तक वैदिक कर्मकाण्ड का निरूपण हुआ है जबकि अन्तिम चालीसवें अध्याय में भगवत्स्वरूप ज्ञानकाण्ड का विस्तृत सरलतम वर्णन प्राप्त होता है। वेद का अन्तिम भाग होने से यह शुद्ध रूप से वेदाङ्ग या वेदान्त ही है। इस उपनिषद् के प्रथम मन्त्र का आरम्भ 'ईशा' अथवा 'ईशा वास्यम्' से होता है और इसी आधार पर इसका नाम ईशोपनिषद् अथवा ईशावास्योपनिषद् रखा गया है। भारतीय दर्शनग्रन्थों के सूक्ष्म अवलोकन से स्पष्ट है कि प्राचीनता की दृष्टि से

¹ ईशावास्योपनिषद्, भूमिका भाग, पृ. 15-17

² संस्कृत साहित्य का इतिहास, द्विवेदी, पारसनाथ, पृ. 146-147

वृहदारण्यक एवं छान्दोग्य उपनिषद् के बाद इसका स्थान निर्धारित होता है।

लघुकाय इस उपनिषद् में कितने ही ऐसे मर्मस्पर्शी स्थल हैं जिनसे आश्चर्यजनक रूप से सूक्ष्म सृष्टि का परिचय मिलता है। यह उपनिषद् आत्मा का रहस्यात्मक महत्त्वपूर्ण वर्णन, सांसारिक विषय-वासना, दुःख-शोकादि में स्थितप्रज्ञ आदर्श ऋषि का वर्णन, कर्मयोग का दिग्दर्शन तथा कर्म एवं ज्ञान का समुचित समन्वय प्रकट करती है। इसके मूल में स्थित इसकी सर्वाधिक मूल्यवान् भावना कर्म और ज्ञान - इन दो विपरीत भावों का तर्कसंगत समन्वय है। अन्य उपनिषदों में या तो कर्ममार्ग पर अधिक बल दिया गया है या केवल ज्ञानमार्ग पर। किन्तु यहाँ कर्म एवं ज्ञान का एक उच्चतर समन्वय में विलय प्रदर्शित किया गया है। भारतीय विचार-विधान के विकास में औपनिषदिक ऋषियों के इन विरोधी भावों के तार्किक समन्वय के साथ-साथ यहाँ अन्य विपरीत द्वन्द्वों यथा विद्या-अविद्या, सम्भूति-असम्भूति, भोग-त्याग, कर्म-निष्कर्म, प्रकृति-पुरुष, भौतिक-अध्यात्म, जन्म-मृत्यु, उत्पत्ति-विनाश, पाप-पुण्य, अन्तः-बाह्य, सगुण-निर्गुण आदि का समन्वय भी दिखाई पड़ता है। यहाँ यावज्जीवन कर्म करने के विधान का चित्रण कर कर्तव्य-भावना को निरूपित किया गया है। जहाँ तक अविद्या-विद्या की बात है तो अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार किया जा सकता है, मृत्यु-तरण के उपाय निकाले जा सकते हैं, स्वास्थ्य के नियमों तथा औषधियों का पता लगाया जा सकता है पर इससे अमृतत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अमरत्व की प्राप्ति तो अध्यात्म-ज्ञान से ही सम्भव है, जो यहाँ विद्या है। व्यक्तिवाद से मनुष्य केवल मृत्यु से बच सकता है, सांसारिक भोग प्राप्त कर सकता है, अमरता के लिए व्यक्तिवाद से आगे बढ़कर समष्टि में जाना होगा, उसमें अपने को विलीन करना होगा। वेदोक्त मन्त्रसमूह का विनियोग यज्ञादि कर्म में होता है, किन्तु आत्मस्वरूप प्रकाशक 'ईशावास्य' के मन्त्रसमूह किसी कर्म में प्रयुक्त नहीं होते हैं, यज्ञादि में प्रयुक्त नहीं होते हैं। अतः वक्ष्यमाण लक्षण से लक्षित आत्मा कर्मविधि के अनुकूल नहीं हैं, आत्मा कर्म का अङ्गभूत नहीं है।

समस्त उपनिषद् और गीतादि मोक्षशास्त्रों की परिसमाप्ति एकमात्र आत्मा के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादन में होती है, परन्तु ईशावास्य के मन्त्र आत्मा की सत्ता, यथार्थ-स्वरूप तथा ब्रह्मविद्या के व्यापक महत्त्व को प्रकाशित करके आत्मा के विषय में लोकप्रसिद्ध उसके कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि अनेक भ्रान्तियों को दूर करते हैं। शोक-मोहादियुक्त संसार का समुच्छेद करके मनुष्य के अन्तःकरण में आत्मैकत्व ज्ञान

उत्पन्न कर देते हैं। यही इसका प्रयोजन है। ज्ञानी पुरुष इसके अधिकारी हैं। आत्मा का यथार्थस्वरूप इसका प्रतिपाद्य है तथा यह उपनिषद् इसका प्रतिपादक है। आत्मतत्त्व की चर्चा करते हुए यहाँ कहा गया है कि यह आत्मा अचल, एक, मन से भी अधिक गतिवाले, देवताओं के द्वारा भी अगम्य, स्वयं स्थित रहते हुए भी दूसरे दौड़नेवाले को पार कर जानेवाले हैं। वे चलते हैं और नहीं चलते हैं, वे दूर हैं और समीप भी हैं, वे सबके मध्य हैं और सबसे बाहर हैं। इस उपनिषद् की विवेचना पद्धति दो प्रकार की दिखाई पड़ती है -

1. **समन्वयात्मक पद्धति** - इसके द्वारा विद्या-अविद्या एवं असम्भूति-सम्भूति जैसे गूढात्मक त्रिकों का निरूपण करते हुए प्रत्येक त्रिक में प्रतिपादित दोनों सिद्धान्तों के अन्तर्गत प्रतिलक्षित होनेवाले विरोधाभास के समन्वय की ओर संकेत किया गया है।
2. **आत्मोक्ति पद्धति** - इसके अन्तर्गत आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। नैतिक, रहस्यात्मक तथा तात्त्विक उपादानों का सम्मिश्रण यहाँ द्रष्टव्य है। इस उपनिषद् का 15वाँ-16वाँ मन्त्र सबके लिए मननीय है तथा 17वाँ-18वाँ मन्त्र मुमूर्षु के लिए स्मरणीय है।

ईशावास्योपनिषद् के प्रतिपाद्य का क्रमवार निरूपण इस प्रकार है -

यहाँ आरम्भ के दो मन्त्र ज्ञानमार्ग अथवा निवृत्ति-मार्ग एवं कर्ममार्ग अथवा प्रवृत्तिमार्ग से सम्बद्ध है।³ प्रथम मन्त्र में परब्रह्म परमात्मा की सर्वव्यापकता की चर्चा करते हुए अपरिपक्व ज्ञानवाले साधक को ज्ञानप्राप्ति में आवश्यक समस्त कामनाओं अर्थात् पुत्र, वित्त तथा लोकादि एषणाओं के त्याग का उपदेश दिया गया है। यहाँ साधक और सिद्ध दोनों के लिए कामनाओं के मूल लोभ को उच्छेदित करने की प्रेरणा दी गई है। यहाँ इस बात का निर्देश दिया गया है कि जो साधक अपने स्वरूप को पहचानते हैं उन्हें निवृत्ति मार्ग का अनुसरण करना पड़ता है। ऐसे साधक द्वारा सांसारिक जीवन के प्रति प्रवृत्त करानेवाली अपनी समस्त कामनाओं का परित्याग करना पड़ता है तथा एक, शुद्ध, अपापविद्ध, अकर्तृ, अभोक्तृ, व्यापकादि आत्मस्वरूप को पहचानना पड़ता है। साथ ही आत्मस्वरूप को अशुद्ध, पाप-

³ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोक्षिस्त न कर्म लिप्यते नरे॥ -
ईशावास्योपनिषद्, मंत्रसंख्या - 1-2

पुण्यादि से युक्त, कर्ता और भोक्तादि समझकर उससे प्राप्त होनेवाले सांसारिक दुःखों में नहीं पड़ने का उपदेश दिया गया है। किन्तु जो प्रवृत्तिमार्गी आत्मज्ञान का अवबोधन करने में असमर्थ है उन्हें कर्ममार्गी बनने का उपदेश दिया गया है अर्थात् सांसारिक एषणाओं में अनुरक्त रहने वाले आत्मज्ञान में असमर्थ मनुष्य के लिए शास्त्रोक्त रीति से कर्म करते हुए जीवन के सुखों की कामना करने का निर्देश दिया गया है। ऐसा इसलिए क्योंकि शास्त्रोक्त रीति से जीवनपर्यन्त कर्म करते हुए जीवन यापन करनेवाले मनुष्य अशुभ कर्मों में संलिप्त नहीं होता, फलतः उसका अधः पतन नहीं होता, बल्कि शास्त्रोक्त रीति से कर्म करते रहने से मनुष्य की बुद्धि शुद्ध हो जाती है तथा उसमें आत्मस्वरूप को पहचानने की क्षमता का उदय होता है। वस्तुतः उक्त दोनों मन्त्रों के निरूपण द्वारा ऋषि यहाँ ज्ञानमार्ग एवं कर्ममार्ग में समुच्चय स्थापित करने की बात करते हैं। यद्यपि आचार्य शंकर ने ज्ञान एवं कर्म के समुच्चय प्रतिपादन को भ्रान्ति मानते हुए छह युक्तियों के द्वारा समाधान प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार हैं -

1. समुच्चय दो अविरोधी वस्तुओं का हो सकता है। ज्ञानमार्ग एवं कर्ममार्ग में स्वाभाविक विरोध होने से समुच्चय सम्भव नहीं है।
2. प्रथम मन्त्र में ईश्वर को सर्वव्यापक समझकर इच्छाओं का त्याग करते हुए आत्मस्वरूप की रक्षा एवं द्वितीय मन्त्र में जीने की इच्छा करनेवाले के द्वारा कर्म करते हुए जीने का विधान - ये दोनों कथन परस्पर विरोधी होने से अस्वीकार्य हैं।
3. परस्पर विरोधी फलवाली वस्तुओं का समुच्चय सम्भव नहीं है।
4. वेदान्तप्रतिपादक अन्य ग्रन्थों में वानप्रस्थ एवं संन्यासमार्ग का प्रतिपादन किये जाने से वेदान्त के प्रतिपादक इस उपनिषद् में ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग के समुच्चय का निरूपण सम्भव नहीं है।
5. अन्य औपनिषदिक ग्रन्थों एवं अन्य शास्त्रों में ज्ञानमार्ग एवं कर्ममार्ग को परस्पर विरोधी बताते हुए भी एषणाओं पर आधारित कर्ममार्ग की अपेक्षा एषणाओं का त्याग करनेवाले ज्ञानमार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है।
6. आचार्य ने कई स्थलों पर अपने व्याख्याक्रम में दोनों मार्गों के भेद का प्रतिपादन किया है।

फिर भी ईशावास्योपनिषद् में परस्पर विरोधी ज्ञान एवं कर्ममार्ग के समुच्चय का प्रतिपादन अन्यतम है। ऋषि कहते हैं कि जो लोग आत्मस्वरूप को नहीं समझते हैं तथा

अनवरत रूप से सांसारिक जीवन के भोगों में संलिप्त रहते हैं उसकी दुर्गति अथवा अधोगति होती है।⁴

आत्मस्वरूप⁵ की चर्चा करते हुए यहाँ आत्मा को निर्विकार, अद्वितीय, सर्वव्यापकता के कारण इन्द्रियातीत, जगत् की समस्त क्रियाओं का आश्रय अर्थात् समस्त जगत् का अधिष्ठाता एवं सर्वधर्मरहित व्यापक तत्त्व स्वीकार किया गया है। वस्तुतः आत्म में अपनी उपाधि (अविद्या) के कारण परस्पर विरोधी धर्मों का अस्तित्व प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में सर्व-धर्म-रहित व्यापक तत्त्व है। यह समस्त जगत् में भीतर, बाहर, निरन्तर और एकरस होकर स्थित है।

आत्मा में सभी भूतों को तथा सभी भूतों में आत्मा को ओतप्रोत समझना सर्वात्म-भावना है। सर्वात्म-भावना से युक्त मनुष्य जगत्प्रपञ्च को हेय नहीं समझता है बल्कि वह शरीर की समस्त क्रियाएँ करता हुआ रागद्वेष से रहित होकर जीवन्मुक्त हो जाता है। ऐसे मनुष्य के लिए जगत् अपने से भिन्न रहता ही नहीं है। ऐसी स्थिति में द्वेषभावना का उदय सम्भव नहीं हो पाता है। द्वेषभावना का कारण भेदबुद्धि का होना है। अपने से भिन्न दोषयुक्त प्रतीत होनेवाले वस्तु के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है तथा मनुष्य उसे अपने से दूर रखना चाहता है। किन्तु जब सबकुछ सर्वविध दोषों से रहित, एकरस तथा स्वयं दिखाई देनेवाला है तब उसे हेय समझने का कोई कारण नहीं रहता है - यह बात स्वतः सिद्ध है। यहाँ इस बात का कथन किया गया है कि सर्वात्मदर्शी के लिए कोई वस्तु हेय नहीं होती है। सर्वात्म भावना का फल स्वतःसिद्ध है। सर्वात्मभावनासम्पन्न व्यक्ति शोक और मोह से रहित हो जाता है। जब व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को समझ लेता है, सर्वत्र एकात्म तत्त्व का अनुभव कर लेता है, सभी पदार्थों में आत्म की व्याप्ति का कारण एकता को समझ लेता है तब सूक्ष्म कारण-अवस्था से लेकर स्थूल कार्यावस्था तक में विद्यमान सभी

⁴ असूर्याः नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृत्ताः।
तां स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ -
ईशावास्योपनिषद्, मंत्रसंख्या-3

⁵ अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत।
तद्भावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्स्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥
तदेजति सन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥
स पर्यगाच्छुक्रमकायमत्रणमस्त्राविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीम्यः समाभ्यः॥ - ईशावास्योपनिषद्,
मंत्रसंख्या - 4-8

पदार्थ उसके लिए आत्मवत् हो जाता है। ऐसी स्थिति में अविद्या के कारण प्रतीत होनेवाले आवरणरूप मोह एवं मोह के कारण उत्पन्न विक्षेप रूप शोक पूर्णतः रहित हो जाते हैं। सर्वात्मभाव का उदय होने पर अविद्या सर्वथा निर्मूल हो जाती है जिससे उससे उत्पन्न कार्य भी सर्वथा उच्छिन्न हो जाता है।

आत्मा के ईश्वर स्वरूप का निरूपण करते हुए यहाँ कहा गया है कि वह आत्मा कवि अर्थात् इन्द्रियातीत का अनुभव करनेवाला अथवा सबको देखनेवाला है। वह ज्ञानी अथवा सर्वज्ञ है। अल्प की उपाधि से युक्त होने पर जीवावस्था में शरीर के साधनों से लभ्य ज्ञान का ज्ञाता है। शुभाशुभ कर्म से रहित, षड्विकारयुक्त स्थूल शरीर से रहित, कभी नष्ट नहीं होनेवाला, सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वदर्शी, अपनी इच्छा से प्रकट होनेवाला, सर्वनियन्ता, मनीषी, मन को भी गति प्रदान करनेवाला, सभी ज्ञानों का कर्ता और सर्वज्ञ है। समष्टि के मन का ईषिता वह सर्वज्ञ ईश्वर है और व्यष्टि के मन की ईषिता वह प्रज्ञ जीव है। वह परिभू, स्वयम्भू, जगत् का अधिष्ठाता, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। अविद्या से ग्रस्त होकर पाप और पुण्य कर्मों के कर्तृत्व के अभिमान से युक्त जीवों के अनुसार उन्हें फल प्रदान करता हुआ वह अनादि काल से पदार्थों की सृष्टि करता आ रहा है, जीवों के कर्म के अनुसार उनके फल का विभाग करता आ रहा है। वह विश्व के समस्त प्राणियों के लिए उनके कर्मानुसार पदार्थों की उचित व्यवस्था अनादिकाल से करता आया है।

अविद्या से कर्म और विद्या से उपासना अर्थ ग्रहण करते हुए यहाँ दोनों के समुच्चय का निरूपण किया गया है।⁶ यहाँ केवल कर्म अथवा केवल उपासना करनेवाले को निन्दा की गई है। अध्यात्मपरक होने से यहाँ विद्या को आत्मज्ञान अथवा परब्रह्मप्राप्ति का साधन स्वीकार किया गया है। आत्मज्ञान से तमस् की निवृत्ति होने के कारण यहाँ विद्या प्रकाशरूपता अर्थ में भी ग्राह्य है। स्वर्गादि लोक की प्राप्ति का साधन कर्म अविद्या नाम से व्यवहृत है। ज्ञान एवं कर्म दोनों के समुच्चय को वास्तविक रूप में जानकर उसका अनुष्ठान करनेवाला मनुष्य ही सर्वोत्कृष्ट एवं वास्तविक फल को प्राप्त कर सकता है।

कर्म एवं उपासना में से प्रथमतः कर्म पर विचार किया जाता है। कर्म के दो प्रकार हैं - 1. निषिद्ध एवं 2. विहित।

⁶ अन्धतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥

अन्यदेवाहर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिरे॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ -

ईशावास्योपनिषद्, मंत्रसंख्या - 9-11

निषिद्ध कर्म से मनुष्य की दुर्गति अनुभवसिद्ध है। विहित कर्मों में काम्य कर्म मनुष्य को अल्प सुख प्रदानकर सुख की प्यास को बढ़ाता है जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य जन्म-मरणरूपी मृत्यु के चक्र से मुक्त नहीं हो पाता है। नित्य एवं नैमित्तिक कर्म की स्थिति में भी कर्तृत्वादि अहंकार बना ही रहता है। अतः स्पष्ट है कि निषिद्ध कर्म से तो अन्ध तमस् की प्राप्ति होती ही है, काम्य कर्म, नित्य और नैमित्तिक कर्म के कारण भी गहन अन्धकार की प्राप्ति होती है। यहाँ अविद्या इसी कर्ममार्ग का बोधक है। जो मनुष्य केवल कर्म अर्थात् अविद्या की उपासना करते हैं वे अविद्यारूपी घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। इसके साथ ही जो मनुष्य केवल विद्या में ही अनुरक्त रहते हैं वे कर्तव्यकर्म के अभाव में अविद्या की अपेक्षा घोर अन्धकार में प्रवेश कर जाते हैं। वस्तुतः ज्ञानमार्ग की उपासना से शास्त्रोक्त देवलोक की प्राप्ति का विधान है। यद्यपि कर्ममार्ग से भी देवों की प्रसन्नता सम्भव है, किन्तु रजोबहुलता के कारण उससे देवस्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता है। जो मनुष्य शास्त्रविहित कर्म न करके केवल ज्ञानप्राप्ति में लगा रहता है, उसे देवलोक की प्राप्ति कदापि सम्भव है किन्तु कर्म से होनेवाले पितृलोक की प्राप्ति संभव नहीं हो सकती। कर्तव्यकर्म से रहित होकर केवल ज्ञानमार्ग से प्राप्त सुख कर्तव्यकर्म से प्राप्त दुःख की अपेक्षा अधिक दुःखदायी होता है। यह ठीक उसी तरह है जैसे कि निन्दित व्यक्ति के द्वारा किया गया दोषपूर्ण व्यवहार तो निन्दित होता ही है, किन्तु श्रेष्ठ व्यक्ति यदि निन्दित व्यक्ति के समान किये जानेवाले आचरण का अनुकरण करता है तो वह अधिक निन्दित माना जाता है। उक्त मन्त्र बृहदारण्यकोपनिषद् में भी प्राप्त होता है। वहाँ इसकी विवेचना करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं कि यहाँ अविद्या का अर्थ साध्य और साधनों से लक्षित कर्म लिया गया है एवं विद्या से तीनों वेदों का ग्रहण किया गया है, जो अविद्या रूप वस्तु कर्म का प्रतिपादन करते हैं या उनका निषेध करते हैं।

उक्त विवेचन का सार यही है कि कर्म और उपासना अर्थात् ज्ञान की सह अनुष्ठेयता या सह-समुच्चय से ही फलितार्थ की प्राप्ति सम्भव है। कहने का आशय यह है कि जो मनुष्य कर्म और देवताओं की उपासना अर्थात् ज्ञान को साथ-साथ करता है वह मनुष्य कर्मानुष्ठान के फलस्वरूप तो अपने स्वाभाविक, सात्त्विक, राजस और तामस प्रवृत्तियों से होनेवाले रागद्वेषमूलक कर्म और कर्म के मूल ज्ञान को लौंघ जाता है तथा दोनों के समुच्चयरूप को अपनातेवाले के लिए एक ओर जहाँ पितृलोक सम्भव होता है, वहीं देवत्वज्ञान के द्वारा देवलोक की प्राप्ति होती है अर्थात् वह देवता के साथ तादात्म्य अर्थात् एकरूपता या अभेद स्थापित कर लेता है और देवसदृश अमृतत्व की प्राप्ति कर लेता है। स्पष्ट है कि

कर्म और देवज्ञान को सम्मिलित रूप में करते हुए मनुष्य की एक ही पुरुषार्थ मोक्ष की क्रमशः प्राप्ति होती है। अन्यत्र भी कहा गया है कि कर्म के द्वारा मनुष्य जहाँ पितृलोक को जीत लेता है वहीं विद्या अर्थात् ज्ञान से देवलोक को। देवोपासना के द्वारा देवात्मभाव होकर मनुष्य को मर्त्यलोक से मोक्ष एवं स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जो मनुष्य विद्या और अविद्या अर्थात् ज्ञान और कर्म के रहस्य को जानकर दोनों का साथ-साथ अनुष्ठान करता है वह कर्मानुष्ठान के द्वारा मृत्यु को पारकर ज्ञानोपासना के द्वारा अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।

वस्तुतः उपनिषत्ग्रन्थों में ईशावास्योपनिषद् ही ऐसा उपनिषद् है जिसमें विद्या और अविद्या को परस्पर एक-दूसरे से भिन्न मानते हुए भी भिन्न नहीं माना गया है अर्थात् विपरीत नहीं माना गया है। अन्य उपनिषत्ग्रन्थों में विद्या और अविद्या को स्वरूप, अधिकारी और फल की दृष्टि से परस्पर विरोधी बताया गया है। यहाँ कहा गया है कि जो ज्ञान आत्मा को देहादि में यह 'मैं हूँ' इस प्रकार का अभिमान उत्पन्न करता है, वह अविद्या है तथा जो ज्ञान उसे निवृत्त करता है, वह विद्या है। अविद्या कर्म में प्रवृत्त करती है जबकि विद्या कर्म से निवृत्त करती है। अतः विद्या से ज्ञेय आत्मा धर्म-अधर्म, कृत-अकृत से दूर है। विद्या का अधिकारी धीर होता है और अविद्या का मन्द। अविद्या से मनुष्य पुनः-पुनः जन्म-मरण को प्राप्त हो जाता है। अतः विद्या और अविद्या न केवल भिन्न है अपितु एक-दूसरे के विपरीत है। ईशावास्योपनिषद् में प्रथमतः तीन बातें कही गई हैं -

1. अविद्या से मनुष्य गहन अन्धकार में प्रवेश करता है जबकि विद्या से वह और भी अधिक गहन अन्धकार में प्रवेश कर जाता है।
2. अविद्या और विद्या के फल भिन्न-भिन्न हैं।
3. दोनों का सह-अनुष्ठान करनेवाला अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमृतत्व का भोग करता है।

कहने का आशय यह है कि यद्यपि अविद्या और विद्या का फल पृथक्-पृथक् होता है तथापि ईशावास्योपनिषद् की दृष्टि में वे परस्पर विपरीत नहीं हैं, बल्कि वे एक-दूसरे के पूरक हैं। यह ठीक है कि अविद्या के फल की अपेक्षा विद्या का फल उत्कृष्ट अवश्य होता है किन्तु इन दोनों में परस्पर सापेक्षता के साथ-साथ परस्पर अंगाङ्गभाव सम्बन्ध है। परस्पर निरपेक्ष अंग और अंगी निष्प्रयोजन होता है। अतः विद्यानिरपेक्ष अविद्या से मनुष्य यदि गहन अन्धकार में प्रवेश करता है तो अविद्यानिरपेक्ष विद्या से भी वह गहन अन्धकार में प्रवेश करता है। यहाँ गहनता एवं गहनतरता की बात परस्पर निरपेक्षता की निन्दा को व्यक्त करती है। इसके विपरीत, यदि दोनों परस्पर समन्वित हैं तो अपना-

अपना फल इन दोनों से प्राप्त होगा, जो प्रकृत में अविद्या से मृत्यु को पार करना एवं अविद्या से अमृतत्व को प्राप्त करना है।

विद्या अर्थात् ज्ञान की यथार्थ उपासना से प्राप्त होनेवाला फल अविद्या अर्थात् कर्म से प्राप्त होनेवाले फल से इतर होता है। किन्तु जो मनुष्य अविद्या और विद्या अर्थात् कर्म और ज्ञान के व्यापक तत्त्व को एक साथ ही समझकर सह-अनुष्ठान करता है अर्थात् शास्त्रोक्त कर्मों का परित्याग नहीं करता है बल्कि कर्त्तापन के मिथ्याभिमान से एवं रागद्वेष और फल की कामना से रहित तो उनका यथाविधि आचरण करता है उसकी जीवनयात्रा सुख एवं आनन्दपूर्वक व्यतीत होता है और कर्मानुष्ठान विधिवत् करने के फलस्वरूप उनका अन्तस्तल समस्त दुर्गुणों, दुराचारों एवं शोकमोहादि समस्त विकारों से रहित होकर विशुद्ध, पवित्र एवं निर्मल हो जाता है और ज्ञानोपासना के द्वारा उस परब्रह्म परमात्मा की असीम कृपा प्राप्तकर वह जन्ममरणरूपी सांसारिक आवागमन से मुक्त हो अन्ततः परम मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

उपनिषत्ग्रन्थों में ईशावास्योपनिषद् में ही विद्या और अविद्या इन दो विपरीत तत्त्वों के समन्वय के साथ ही यहाँ असम्भूति और सम्भूति इन दो विपरीत तत्त्वों के समन्वय की चर्चा भी प्राप्त होती है।⁷ सामान्यतः असम्भूति शब्द का अर्थ है जिसकी सत्ता पूर्णरूप से सत्ता नहीं होती है ऐसा विनाशशील देव, पितर और मनुष्यादि योनियाँ एवं उनकी भोग्य सामग्रियाँ। इसी तरह सम्भूति का अर्थ है - जिसकी सत्ता पूर्ण रूप से हो अर्थात् इस चराचर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाला अविनाशी निर्विकार परब्रह्म पुरुषोत्तम। यहाँ असम्भूति और सम्भूति इन दोनों ही तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को समझकर दोनों का सह-अनुष्ठान करनेवाला मनुष्य ही सर्वोत्तम फल का भागी होता है।

वस्तुतः असम्भूति और सम्भूति के समन्वय में कारण और कार्य का समन्वयार्थ अभिप्रेत है। विद्या और अविद्या की उपासना जहाँ भक्तिमार्ग को प्रशस्त करती है वहीं सम्भूति और असम्भूति की उपासना जगत् के विक्षेपण के माध्यम से दर्शन का मार्ग प्रशस्त करती है। कारणनिरपेक्ष कार्य अथवा कार्यानिरपेक्ष कारण की उपासना का फल सांसारिक चक्र के बन्धन से युक्त हो जाना है। किन्तु इन दोनों की समन्वित उपासना करने पर जहाँ कार्य की उपासना से अणिमा आदि

⁷ अन्धतमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।

ततो भूय इव ते तमो ये उ सम्भूत्यां रताः॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे।।

सम्भूर्तिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते।। -

ईशावास्योपनिषद्, मंत्रसंख्या - 12-14

ऐश्वर्य की प्राप्ति होने से प्रतिदिन के जरा-मरण, रोग, भय, क्षुधा, पिपासा, अपमानादि से प्राणी मुक्त हो जाता है वहीं कारण अर्थात् अपर ब्रह्म की उपासना से उसमें लयरूपी सापेक्ष मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार असम्भूति और सम्भूति की समन्वित उपासना का सर्वोच्च फल जगत् के कारण अपर ब्रह्म में लीन होना रूपी सापेक्ष अमरता ही है। अपर ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति होती ही रहती है। इसलिए असम्भूति एवं सम्भूति के युग्म की समन्वित उपासना के फलस्वरूप कारण ब्रह्म में लीन साधक का भी उसी प्रकार पुनर्जन्म होता है जिस प्रकार अविद्या और विद्या के युग्म की उपासना के फलस्वरूप उपास्य देवता के साथ सायुज्य, सालोक्य और ताद्भाव्य को प्राप्त हुए साधक का पुनर्जन्म होता है। देवता कारण ब्रह्म की ही अवान्तर गुणाभिधान कार्य अवस्थाएँ हैं। अतः कार्य-लय (देवता-ताद्भाव्य) फल देनेवाली अविद्या-विद्योपासना कारण-लय (अपर-ब्रह्म, प्रकृति में लय) फल देनेवाली असम्भूति-सम्भूत्युपासना से कुछ अवर कोटि का है। अविद्या-विद्या के युग्म की उपासना कार्य की ही उपासना है जबकि असम्भूति-सम्भूति की उपासना कार्यकारण की उपासना है। अतः स्वरूप की दृष्टि से कार्य-कारणोपासना और कार्योपासना में व्याप्य-व्यापकभाव संबंध होने से असम्भूति-सम्भूति (व्यापक) की उपासना विद्या-अविद्या (व्याप्य) की उपासना से सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सम्भूति और असम्भूति अर्थात् कार्य और कारण की पृथक्-पृथक् उपासना से पृथक्-पृथक् फल की प्राप्ति होती है जबकि कार्य और कारण की समुच्चयात्मक उपासना से लाभ होता है। जो मनुष्य असम्भूति कारण और विनाश अर्थात् नष्ट होनेवाले कार्य दोनों को एक साथ जानता है वह नष्ट होनेवाले कार्य की उपासना से मृत्यु को पार करके कारण (प्रकृति की उपासना) से अमरता को प्राप्त कर लेता है।

सम्भूति एवं असम्भूति दोनों में समन्वय स्थापित कर लेनेवाला मनुष्य अविद्या के स्वरूप को भलीभाँति समझने के कारण आत्मतत्त्व की ओर कदाचित् उन्मुख हो सकता है। नहीं तो, कार्यजगत् की उपासना के द्वारा वह विभिन्न सिद्धियों को पाकर अपनी असमर्थतारूपी मृत्यु को पार कर लेता है, अन्य साधारणजनों से वह विशेष सामर्थ्यसम्पन्न हो जाता है तथा उनकी तरह प्रमूढ नहीं रहता। कारण अवस्था की उपासना के फलस्वरूप उसकी विकारों को वास्तविक समझने की दृष्टि नष्ट हो जाती है तथा वह कारण अवस्था (प्रकृति) में लीन होकर सापेक्ष अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। उसके व्यष्टि अज्ञान का लय समष्टि अज्ञान में हो जाता है, वह प्रकृति-लय पा लेता है। इस प्रकार समन्वित उपासना के फलस्वरूप वह शरीर रहते तो अणिमादि सिद्धियों का भोग करता है तथा शरीर-पात के पश्चात् अपने

कारण में लीन हो जाता है। यह कारण लय आत्यन्तिक मोक्ष की स्थिति नहीं है, वह तो आत्म-स्वरूप के ज्ञान से ही सम्भव है। अतः यह अमरत्व आ-भूत-सम्प्लव ही होने के कारण सापेक्ष-शीघ्र विनाशशील कार्यावस्था की अपेक्षा से है। यह स्थिति संसार के लिए काम्य है तथा ज्ञानमार्गी के लिए हेय है।

कार्यब्रह्म की निरन्तर उपासना एवं इसके विपरीत अव्यक्त उपासना से प्राप्त होनेवाला फल पृथक्-पृथक् होता है। जो मनुष्य परब्रह्म परमात्मा को - सर्वाधार, सर्वाधिपति, जगन्नियन्ता, निराकार, निर्विकार आदि समझता है तथा उसकी लीलाओं का एकनिष्ठ होकर गुणगान, चिन्तन, मनन, स्मरण आदि करते हुए प्रतिक्षण उसी की उपासना करता है, वह उस परब्रह्म में ही रम जाता है जो कि इस चराचर, स्थावर, जंगमादि का मूलाधार है। इसके अतिरिक्त जो मनुष्य देवता, पितर, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध आदि की पूजा को अपना पुनीत कर्तव्य समझते हुए करते हैं ऐसे निष्काम कर्म के फलस्वरूप उसका अन्तःकरण पूर्णतः शुद्ध हो जाता है और वे इस संसार सागर से बिना प्रयास के ही तर जाते हैं। स्पष्ट है कि असम्भूति और सम्भूति दोनों की समन्वयात्मक उपासना को जानकर मनुष्य असम्भूति से मृत्यु को पारकर सम्भूति के द्वारा अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।

विद्या-अविद्या, सम्भूति-असम्भूति के निरूपणोपरान्त यहाँ शरीरावसानकाल में भक्त के द्वारा ज्योतिर्मयी आदित्यमण्डल अर्थात् हिरण्यमयी पूषन् देवता से प्रार्थना की चर्चा की गई है⁸ कि आज जब शरीर से व्याप्त चैतन्य का शरीररूपी आवरण नष्ट हो रहा है उस समय हिरण्यमयी पात्र अर्थात् सत्य के आवरण को हे विश्व के पालक जगन्नियंत्रक, प्रजापतिनंदन पूषन् देवता अपने चैतन्य ब्रह्म से हटा लें जिससे आपके साथ (पूषन् देवता के साथ) सायुज्य या तादात्म्यभाव स्थापित कर अमृतत्व की प्राप्ति संभव हो सके। प्रवृत्तिमार्गी मनुष्य विद्या और अविद्या एवं कार्य और कारण की समुच्चित उपासनाओं से अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। उस अमृतत्व को पाने के लिए बाधाएँ हटाने की प्रार्थना सृष्टि में निहित चेतना के प्रतीक आदित्य से की गई है। यहाँ पूषा की प्रार्थना करके उसमें निहित चैतन्य से अपनी अभिन्नता की स्थापना की गई है। शास्त्रोक्त विधि से विद्या और अविद्या की तथा सम्भूति और असम्भूति की उपासनाओं को समुच्चय से कर चुका साधक द्वारा अपने शरीरावसानकाल के निकट आने पर अपने पंचतत्त्व भूतों से निर्मित भौतिक शरीर के अपने कारण में

⁸ हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ - ईशावास्योपनिषद्,
मंत्रसंख्या-15

लीन होने की तथा अपने कर्म को स्मरण करने की उद्बोधना स्वयं को कराये जाने की बात की गई है।⁹ यहाँ शरीर की अनित्यता एवं अपने कर्मों का स्मरण स्वयं को कराया गया है।

कर्म एवं देवतोपासना की तथा कार्य और कारण की उपासनाएँ साथ-साथ करनेवाला साधक कर्म एवं उपासना के फलस्वरूप अपने जीवनकाल में अनैश्वर्यादि स्वरूपवाली मृत्यु को लॉचकर अपना अन्तकाल निकट आने पर अर्थात् अपुनरावती, अर्चि आदि मार्ग के द्वारा परमधाम में गमन करते समय उस मार्ग के स्वामी अग्निदेवता से अच्छे मार्ग से ले जाने हेतु प्रार्थना करते हैं।¹⁰ जीवन का अन्त होने पर मनुष्य या तो पुनः जीवलोक को प्राप्त होता है या स्वर्गलोक प्राप्तकर देवताओं का सान्निध्य प्राप्त करता है। इस प्रसंग में देवयान शब्द का विशेष प्रचलन प्राप्त होता है। देवयान का अभिप्राय वह मार्ग है जिससे होकर देवता यज्ञ में आते हैं या उन्हें हवि पहुँचायी जाती है तथा वह मार्ग जिससे होकर जीव जीवन के अन्तकाल में देवताओं को प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में पूषा और अग्निदेवता की चर्चा विशेष रूप से प्राप्त होती है। ये देवता जीवन का अन्त होने पर मनुष्य को या तो पितरों के सान्निध्य में पहुँचाते हैं या देवों के सान्निध्य में। कर्म का प्रधान देवता होने के कारण अग्नि को अमरत्व प्राप्ति के प्रमुख कारक के रूप में वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। इस प्रसंग में दो प्रकार के मार्ग की विशेष चर्चा दृष्टव्य है - (1) पितृयाण अथवा दक्षिणमार्ग, जिसका स्वामी यम है इस मार्ग पर जाने वाला मनुष्य पुनः संसार में आता है। (2) देवयान - इसे ही यहाँ सुपथा कहा गया है। यह संसार के आवागमन से मुक्त कर अमरत्व प्राप्ति का मार्ग है। सभी प्रकार के आन्तरिक एवं बाह्य कर्मों को जानने के कारण अग्निदेव मनुष्य को उसके कर्मों का फल देने में समर्थ होते हैं अतः उनकी प्रार्थना अपेक्षणीय है।

इस प्रकार यहाँ विद्या-अविद्या, सम्भूति-असम्भूति आदि जैसे दो विपरीत भावों का समुच्चयात्मक या समुचित समन्वय के साथ-साथ कर्तव्यकर्म, आत्मस्वरूप आदि की विशिष्ट चर्चा प्राप्त होती है। साथ ही पूषन् देवता के साथ सायुज्यता एवं अग्निदेव से सुपथा पर ले जाने की प्रार्थना यहाँ स्पष्ट रूप से की गई है। इस ग्रंथ का उद्देश्य

औपनिषदिक विचारों के अनुरूप ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान एवं परमतत्त्व मोक्ष की प्राप्ति है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1. ईशावास्योपनिषद्, सम्पादक - पाण्डेय, वाचस्पति, साहित्य भण्डार, मेरठ।
2. ईशोपनिषद्भाष्यकुसुमाञ्जली, सम्पादक - शास्त्री, शिवनारायण, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, संस्करण-2007.
3. ईशादि नौ उपनिषद्, व्याख्याकार - गोयन्दका, हरिकृष्णदास, गीताप्रेस गोरखपुर, बाईसवाँ संस्करण, विक्रम संवत्-2058.
4. वैदिक साहित्य का इतिहास, द्विवेदी, पारसनाथ, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1987.
5. वैदिक साहित्य और संस्कृति, उपाध्याय, आचार्य बलदेव, शारदा संस्थान, वाराणसी, पञ्चम संस्करण-2010.

⁹ पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः
सोऽहमस्मि॥

वायुरनिलमृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।

ऊँ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतोस्मरकृतं स्मर॥ - वही, मंत्रसंख्या - 16-17

¹⁰ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥ -
ईशावास्योपनिषद्, मंत्रसंख्या-18